

आकाश की अवधारणा : आगमों के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. विजय कुमार

पाश्र्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी...

भारतीय दर्शन की प्रायः सभी शाखाओं में आकाश की अवधारणा देखी जाती है। अंतर केवल मान्यताओं का है। चार्वाक उसे पंचमहाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) के रूप में स्वीकार करता है तो बौद्ध दर्शन में वसुबन्धु आकाश का वर्णन 'तत्राकाशं अनावृत्ति' कहकर करते हैं।^१ अर्थात् आकाश न तो दूसरों को आवृत्त करता है और न ही दूसरों से आवृत्त होता है। किसी भी रूप (वस्तु) को अपने में प्रवेश करने से नहीं रोकता। अतः आकाश धर्म है तथा नित्य अपरिवर्तनशील असंस्कृत (जिसका उत्पाद-विनाश नहीं होता) धर्म है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार आकाश एक सरल (अमिश्रित) निरंतर स्थायी तथा अनन्त द्रव्य है। यह शब्द का अधिष्ठान है जो रंग, रस, गंध और स्पर्श आदि गुणों से रहित है। अपनयन की क्रिया द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि शब्द आकाश का विशिष्ट गुण है।^२ वस्तुतः यह निष्क्रिय है किन्तु समस्त भौतिक पदार्थ इसके साथ संयुक्त पाये जाते हैं।^३ सांख्य-दर्शन एकमात्र प्रकृति तत्त्व को मानकर उसी से प्रकृति की सारी वस्तुओं की उत्पत्ति मानता है। इसके अनुसार शब्द तन्मात्रा से शब्द गुणवाले आकाश की उत्पत्ति होती है। जैन-दर्शन में पंचास्तिकाय की अवधारणा मान्य है। धर्म, अधर्म, आकाश जीव और पुद्गल पंचास्तिकाय के अंतर्गत आते हैं। इन्हीं पंचास्तिकायों में काल को समावेशित करके छह द्रव्यों की सत्ता मानी गई है। आकाश इन्हीं छह द्रव्यों में से एक है। (जैन मतानुसार आकाश के स्वरूप की चर्चा आगे की जाएगी)। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन में आकाश के स्वरूप के विषय में मतभिन्नता है।

आकाश के विषय में उपर्युक्त मतभिन्नताएँ न केवल भारतीय दर्शन बल्कि पाश्चात्य दर्शन में भी देखने को मिलती हैं। अरस्तू के देश (Space) विषयक विचारों के बारे में कुछ विद्वानों का मानना है कि अरस्तू-दर्शन में देश वह है जिसमें वस्तुएँ स्थित हैं। अन्य विद्वानों के अनुसार अरस्तू ने देश की सत्ता को वस्तुओं पर निर्भर माना है।^४ प्लॉटिनस ने देश की उत्पत्ति को वस्तुओं की उत्पत्ति के बाद की घटना माना है। वस्तुएँ पहले द्रव्यात्मक हैं,

फिर देशात्मक। मध्ययुगीन दार्शनिकों में विशेषतः सन्त ऑगस्टाइन ने देश को वस्तुओं से स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं माना है।^५ रेनेदेकार्त जो बुद्धिवादी दार्शनिक है, ने देश को व्याप्ति (Extention) कहकर उसे जड़ वस्तुओं का मौलिक गुण माना। उनके अनुसार विस्तार जड़ का भौतिक धर्म है। जो जड़ में निहित होता है जड़ के विस्तार से भिन्न अथवा अलग नहीं माना जा सकता और न ही दोनों को एक-दूसरे से अलग कर सकते हैं। हमें कभी भी किसी ऐसी वस्तु या पदार्थ का बोध नहीं होता जो देश में फैला न हो। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि देकार्त की दृष्टि में विस्तार (Extention) तथा देश (Space) दोनों एक ही हैं। अतः स्पष्ट होता है कि देकार्त के अनुसार विस्तार जड़ पदार्थ का मौलिक धर्म है। लाइब्निज के अनुसार देश और काल की कोई अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। उसके अनुसार हम लोग वस्तुओं को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और स्थितियों में देखते हैं यथा, यहाँ वहाँ दूर नजदीक इत्यादि और इसके आधार पर ही देश की कल्पना कर लेते हैं। अतः देश की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है-देश (Space) काल, गति, स्थिरता आकार आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति मन से होती है, क्योंकि बुद्धि ही इनका आधार है, जिनका किसी भी प्रकार बाह्य जगत से संबंध होता है।^६ इससे स्पष्ट होता है कि लाइब्निज देश की यथार्थ सत्ता नहीं मानते, क्योंकि वे पूर्ण रूप से इसे मानसिक अथवा बौद्धिक मानते हैं। इमानुएल काण्ट के अनुसार देश केवल प्राग् अनुभव अंतःदर्शन की उपज है। उनका मानना है कि देश कोई ऐसा आनुभाविक प्रत्यय नहीं जिसे बाह्य अनुभूतियों से पूर्णतः असंबद्ध कहा जाए। यह दिखाने के लिए जो संवेदनाएँ हमें प्राप्त होती हैं, उनका बाह्य वस्तुओं से संबंध है तथा यह जानने के लिए कि वे वस्तुएँ न केवल हमसे बाहर और और एक दूसरे से भिन्न हैं बल्कि वे भिन्न-भिन्न स्थानों पर भी हैं, देश को उनके आधार रूप में मानना आवश्यक है। तात्पर्य है कि बाह्य अनुभूतियाँ तभी संभव हैं जब संवेदनाएँ देश रूपी साँचे में ढलकर हमारी चेतना में प्रवेश करें। अतः सिद्ध है कि देश संवेदन

ग्राहिता के पूर्वानुभाविक तत्व है।^{१०} मिशाल के तौर पर यदि हम एक फूल की कल्पना करते हैं तो इसके साथ ही देश का विचार भी आ जाता है, क्योंकि गुलाब कुछ न कुछ दिक् घेरता है और इसी प्रकार गुलाब की उपस्थिति किसी न किसी काल में होती है। अतः काण्ट के अनुसार देश और काल की कल्पना तो वस्तुओं के अभाव में संभव है, परंतु किसी भी वस्तु की कल्पना बिना देश और काल के संभव नहीं है। अतः देश और काल संवेदनग्राहिता के पूर्वानुभाविक तत्व हैं। काण्ट के अनुसार देश और काल पूर्वानुभाविक हैं, यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि देश और काल अपरिमित (Infinite) हैं, जिन्हें कोई भी व्यक्ति अपनी अनुभूतियों में नहीं ला सकता।^{११}

भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतकों के विचारों को देखने के पश्चात् आकाश के संबंध में तीन विचारधाराएँ स्पष्ट होती हैं--

- (i) आकाश प्राग्-अनुभव अंतःदर्शन की उपज है।
- (ii) आकाश जड़ पदार्थों से जुड़ा है या उनका गुणरूप या क्रमरूप है।
- (iii) आकाश जड़ और चेतन से सर्वथा भिन्न एक स्वतंत्र वास्तविकता है।

प्रथम विचारधारा के समर्थकों में काण्ट का नाम प्रमुख है। इनका मानना है कि आकाश स्वयं में कोई वास्तविक तत्व नहीं है, बल्कि हमारे मस्तिष्क की उपज है। चूँकि हम व्यवहार में वास्तविक पदार्थों के विस्तार को देखते हैं और यह अनुभव करते हैं कि इसका कोई न कोई आधार होना चाहिए। उस आधार रूप में हम आकाश की कल्पना कर लेते हैं। अर्थात् आकाश आत्मनिष्ठ है, ज्ञाता में निहित है। वास्तविक पदार्थ या पदार्थ का गुण नहीं। प्रश्न होता है कि वास्तविक पदार्थों का आधार यदि वास्तविक नहीं होता है तो काल्पनिक आश्रय के द्वारा उनका टिकाव कैसे हो सकता है। अतः आकाश को वास्तविक मानना ही पड़ता है। जहाँ तक आकाश के पूर्वानुभाविक अंतःदर्शन का प्रश्न है, जो वस्तुओं के प्रत्यक्ष करने के अपरिहार्य आधार हैं। हमारी सभी संवेदन-सामग्रियाँ देशकाल द्वारा व्यवस्थित होकर ही हमारी चेतना में प्रवेश करती हैं। काण्ट के इस मत की आलोचना करते हुए वर्टेण्डरसेल ने कहा है- यदि यह मान लिया जाए कि सभी संवेदन-सामग्रियाँ देश (Space) और काल

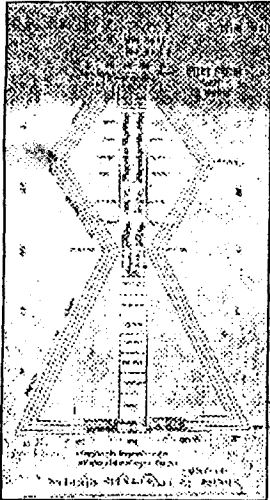
(Time) द्वारा व्यवस्थित होकर ही हमारी चेतना में प्रवेश करती हैं तो प्रश्न होता है कि संवेदन-सामग्रियाँ देश और काल को सदा ही उसी रूप में व्यवस्थित क्यों करती हैं, जैसा कि हम उन्हें देखते हैं, वे क्यों नहीं उन्हें किसी भिन्न अथवा दूसरे रूप में व्यवस्थित करती हैं। मिशाल के तौर पर हम हमेशा क्यों यह देखते हैं कि मनुष्य की आंखें उसके मुख के ऊपर हैं, उससे भिन्न अथवा दूसरे रूप में व्यवस्थित क्यों नहीं ?^{१२} यद्यपि काण्ट ने इसका समाधान दिया है, जिसका विस्तृत विवेचन हम यहाँ नहीं कर सकते। किन्तु आकाश की वास्तविक सत्ता को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा।

लाइब्निज के अनुसार भी आकाश की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। वस्तुओं की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और स्थितियों के आधार पर हम देश (Space) की कल्पना कर लेते हैं। इस प्रकार लाइब्निज आकाश को जड़ पदार्थों से जोड़ देते हैं। प्रश्न होता है कि यदि भौतिक पदार्थों का अभाव है तो आकाश के अस्तित्व का भी होगा? अतः लाइब्निज की यह मान्यता स्वीकारने योग्य नहीं है। क्योंकि आकाश अनन्त है और भौतिक जगत् शांत। आकाश अमूर्त है जबकि भौतिक पदार्थ मूर्त। साथ ही आकाश को भौतिक पदार्थ का गुण भी मानना उपयुक्त नहीं जान पड़ता, जैसा कि डेकार्त ने माना है। स्थान रोकना या स्थान पाना भौतिक पदार्थ का गुण है किन्तु जिसमें स्थान पाया जाता है, वह तो उससे भिन्न ही होता है। एक ही स्थान में अनेक पदार्थों का आश्रित होना और एक ही पदार्थ का कालांतर में अनेक स्थानों में आश्रित होना आश्रय देने वाले तत्व को आश्रित तत्व से भिन्न कर देता है। दूसरी बात कि आकाश अमूर्त है तथा भौतिक पदार्थ मूर्त। फिर अमूर्त आकाश मूर्त पदार्थ का गुण कैसे बन सकता है?

जैन दर्शन के अनुसार आकाश सर्वव्यापी, एक अमूर्त और अनन्त प्रदेश वाला है। 'आकाशस्यावगाहः' आकाश का लक्षण है।^{१३} वह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल को स्थान देता है। अतः वह अवगाहन गुणवाला है। स्वरूप की दृष्टि से अवर्ण, अगंध, अस्पर्श, अरूपी, अजीव शाश्वत अवस्थित व लोकालोकरूप द्रव्य है।^{१४} स्थानाङ्गसूत्र के अनुसार वह द्रव्य की अपेक्षा से एक द्रव्य है। क्षेत्र की अपेक्षा से लोकालोक प्रमाण अर्थात् सर्वव्यापक है। काल की अपेक्षा से वह ध्रुव,

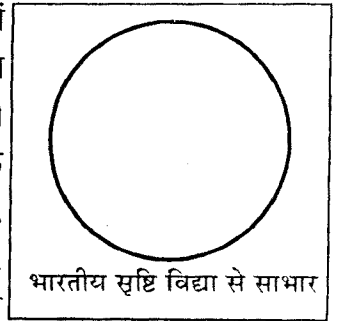
निश्चित, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अव्यवस्थित और नित्य है। भाव की अपेक्षा से अवर्ण, अरस आदि है तथा गुण की अपेक्षा से अवगाहन गुणवाला है।^{१२} अवगाहना चार प्रकार की बताई गई है।^{१३} द्रव्यावगाहना, क्षेत्रावगाहना, कालावगाहना तथा भावावगाहना। जिस द्रव्य का जो शरीर या आकार है, वही उसकी द्रव्यावगाहना है, इसी प्रकार आकाश रूप क्षेत्र को क्षेत्रावगाहना, मनुष्यक्षेत्र रूप समय की अवगाहना को कालावगाहना तथा भाव अर्थात् पर्यायों वाले द्रव्यों की अवगाहना भावावगाहना कहलाती है।

आकाश के दो विभाग हैं-लोकाकाश तथा अलोकाकाश।^{१४} विश्व में जो रिक्त स्थान है, वह लोकाकाश तथा विश्व के बाहर रिक्त स्थान अलोकाकाश है। दूसरी भाषा में जहाँ पुण्य और पाप का फल देखा जाता है वह लोक है। पुण्य पाप का फल वहीं देखा जाता है जहाँ धर्म, अधर्म काल, जीव और पुद्गल रहते हैं। अतः वही लोकाकाश है जहाँ ये सब रहते हैं। जहाँ इन द्रव्यों का अभाव होता है, वहाँ अलोकाकाश है। तात्पर्य है कि जहाँ आकाश ही आकाश है वहाँ अलोकाकाश है। आकाश अनन्तप्रदेशी, नित्य, अनन्त तथा निष्क्रिय है। चूँकि लोक की सीमा होती है, किन्तु अलोक की कोई सीमा नहीं होती इसलिए आकाश को अनन्त प्रदेशी स्वीकार किया गया है। आकाश का यह विभाजन वस्तुतः चौदह रज्जु ऊँचा पुरुषाकार लोक के कारण हुआ है। यद्यपि आकाश की दृष्टि से लोकाकाश और अलोकाकाश में कोई भेद नहीं है। वह सर्वत्र एकरूप अर्थात् सर्वव्यापक है। लोकाकाश और अलोकाकाश के इस विभाजन को निम्न आकृति से स्पष्ट समझा जा सकता है--



लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाजन सर्वप्रथम आचारांगसूत्र में देखा जाता है। द्वितीय अध्ययन में लोक की चर्चा करते हुए उसके तीन भाग बताए गए हैं--अधोभाग, ऊर्ध्वभाग और तिर्यग्भाग।^{१५} पं. दलसुखभाई मालवणिया ने भी लिखा है कि आचारांग के द्वितीय अध्ययन का नाम लोकविजय है तथा पाँचवें अध्ययन का नाम लोगसार है और उसके बीच तिर्यग् लोक में मनुष्य रहता है, यह मान्यता भी स्थिर हो गई थी।... साथ ही लोकों के तीनों भागों में जाने का निर्देश है, लोक के अलावा अलोक की कल्पना भी देखी जाती है।^{१६} लोक के अतिरिक्त अलोक की कल्पना जैन-दर्शन को छोड़कर अन्य किसी दर्शन में देखने को नहीं मिलती। यह जैन-दर्शन की अपनी विशिष्टता का द्योतक है। इस सन्दर्भ में आचार्य महाप्रज्ञ का मत है कि अलोक का अर्थ है केवल आकाश और लोक का अर्थ है चेतन और अचेतन तत्त्व से संयुक्त आकाश। जैन-दर्शन के अनुसार लोक-अलोक का विभाग नैसर्गिक है, अनादिकालीन है। वह किसी ईश्वरीय सत्ता द्वारा कृत नहीं है। लोक की स्वीकृति प्रायः सभी दर्शनों ने की है। जगत् या सृष्टि को सब मानते हैं। किन्तु अजगत् या असृष्टि को कोई दार्शनिक स्वीकार नहीं करता। यह भगवान महावीर की मौलिक देन है।^{१७} आचार्य महाप्रज्ञजी और मालवणियाजी के विचारों से यह नहीं समझना चाहिए कि दोनों में अंतर है। बस दृष्टि-भेद है तो कथन का। आचार्य का कथन जैन-दर्शन की मौलिकता पर आधारित है, तो मालवणिया जी का कथन आगमों की ऐतिहासिकता पर।

लोक से बाहर अलोकाकाश है जिसे व्याख्या-प्रज्ञप्ति में सुधिर गोल संस्थानवाला बतलाया गया है।^{१८} जैन-दर्शन में अलोकाकाश को गोलाकार शून्य वृत्त से दर्शाया जाता है।^{१९} आकाश लोक और अलोक दोनों में विद्यमान है। लोक में सात अवकाशान्तर पाये जाते हैं। अवकाशान्तर आकाश का एक पर्यायवाची नाम है।^{२०} रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तामःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ हैं जो घनाम्बु, वात और आकाश पर स्थित है।^{२१} जैन मतानुसार जगत् के समस्त पदार्थ आकाश पर ही स्थित हैं। स्थानांगसूत्र में लोकस्थिति का निरूपण करते



हुए कहा गया है वायु (तनुवात) आकाश पर प्रतिष्ठित है। समुद्र (घनोदधि) वायु पर प्रतिष्ठित है। पृथ्वी समुद्र पर प्रतिष्ठित है। त्रस स्थावर प्राणी पृथ्वी पर प्रतिष्ठित है। अजीव जीव पर प्रतिष्ठित है। जीव कर्म पर प्रतिष्ठित है। अजीव जीव के द्वारा संगृहीत है। जीव कर्म के द्वारा संगृहीत है^{२१} यहाँ आपत्ति उठाई जा सकती है कि आकाश सब पदार्थों का आश्रयदाता है, तो आकाश को भी आश्रय देने वाला कोई होगा। आकाश को आश्रय देने वाला कोई और है, ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आ जाएगा। यदि भौतिक पदार्थ को ही आश्रयदाता मानते हैं तो भी अनवस्थादोष आ सकता है। क्योंकि किसी भी प्रकार का भौतिक पदार्थ बिना आश्रय टिक नहीं सकता। अतः अभौतिक द्रव्य आकाश की धारणा करते हैं। अतः आकाश स्व-आधारित है और पदार्थों को आश्रय देना उसका स्वभाव है। भगवती वृत्ति में कहा गया है आकाश स्वप्रतिष्ठित है, इसलिए उसका किसी पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख नहीं है।^{२२} प्रश्न होता है आकाश यदि स्वप्रतिष्ठित है तो फिर सभी द्रव्यों को स्वप्रतिष्ठित क्यों न मान लिया जाए? इसका उत्तर देते हुए डा. मोहनलाल मेहता कहते हैं कि निश्चय दृष्टि से तो सभी द्रव्य आत्मप्रतिष्ठित हैं, किन्तु व्यवहार-दृष्टि से अन्य द्रव्य आकाशाश्रित हैं। इन द्रव्यों का संबंध अनादि है, अनादि संबंध होते हुए भी इनमें शरीर हस्तादि की तरह आधाराधेय भाव घट सकता है। आकाश अन्य द्रव्य से अधिक व्यापक है, अतः सबका आधार है।^{२३} आकाश सबका आधार है यह व्याख्याप्रज्ञप्ति में वर्णित महावीर के इस कथन से भी स्पष्ट होता है। 'आकाशतत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ है?' गणधर की इस जिज्ञासा को शांत करते हुए महावीर ने कहा है- 'गौतम! आकाश नहीं होता तो ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ पर बरतता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ पर बनता? यह विश्व निराधार ही होता।^{२४} जगत् सर्वव्यापक है। ऐसी कोई भी जगह नहीं जहाँ आकाश की सत्ता नहीं हो। सामान्यतया जिसे हम ठोस समझते हैं, उनमें भी आकाश अर्थात् रिक्त स्थान होता है। मूर्त द्रव्यों में भी आकाश निहित रहता है। मिसाल के तौर पर लकड़ी में जब हम कील ठोकते हैं तो कील लकड़ी के रिक्त स्थान में ही समाहित होती है। तात्पर्य है कि लकड़ी में भी आकाश है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में अवकाश होता है। परमाणु भी अवकाश शून्य नहीं है। अवकाशान्तर का यह सिद्धांत आधुनिक विज्ञान

द्वारा समर्थित है। परमाणु के दो भाग हैं--इलेक्ट्रॉन और प्रोटोन। इन दोनों के बीच में एक अवकाश विद्यमान रहता है। दुनिया के समस्त पदार्थों में से यदि अवकाश को निकाल दिया जाए तो उसकी ठोसता आँवले के आकार से बृहत् नहीं होगी।^{२५}

जैन-दर्शन द्वारा मान्य लोकाकाश और अलोकाकाश के विषय में एक प्रश्न यह भी देखने को मिलता है कि पहले लोकाकाश की सत्ता बनी या अलोकाकाश की। सामान्यतया ऐसा माना जाता है कि सृष्टि से पूर्व शून्य आकाश था, जिसमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि की उत्पत्ति हुई। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन आया है कि प्रवाहण जैवलि से पूछा गया कि पदार्थों की चरमगति क्या है? उत्तरस्वरूप उन्होंने कहा जिससे समस्त पदार्थों का उद्भव होता है, और अंत में आकाश में ही विलीन हो जाता है।^{२६} लेकिन जैन-दर्शन के अनुसार सृष्टि अनादि और अनन्त है। अतः उसके अनुसार लोकाकाश और अलोकाकाश में पूर्व और पश्चात् का क्रम होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होना चाहिए। भगवई में स्पष्ट कहा गया है कि लोकान्त और अलोकान्त पहले भी थे और आगे भी होंगे। ये दोनों शाश्वतभाव हैं। रोह! यह अनानुपूर्वी है-लोकान्त और अलोकान्त में पूर्व - पश्चात् का क्रम नहीं है।^{२७}

वैशेषिक-दर्शन दिक् को एक स्वतंत्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है। उनकी यह मान्यता उचित नहीं जान पड़ती है। जैन-दर्शन के अनुसार दिशा कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। आकाश के प्रदेशों में सूर्योदय की अपेक्षा दिशाओं की कल्पना की गई है। पं. महेन्द्र कुमार जैन का मानना है कि आकाश के प्रदेशों में पंक्तियाँ सभी तरफ कपड़े में तंतु के समान श्रेणीबद्ध है। एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है, वह प्रदेश कहलाता है। इस नाप से आकाश के अनन्त प्रदेश हैं। यदि हम पूर्व, पश्चिम आदि का व्यवहार होने से दिशा को एक स्वतंत्र द्रव्य मानेंगे तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश आदि व्यवहारों से देशद्रव्य भी स्वतंत्र माना जाएगा, फिर प्रांत, जिला आदि अनेक स्वतंत्र द्रव्यों की कल्पना करनी होगी जो उचित नहीं है।^{२८} इस संबंध में विशिष्टाद्वैतवादी श्री निवासाचार्य का मत भी उल्लेखनीय है। उन्होंने कहा है - आकाश के जिस प्रदेश से सूर्य उदित होता है, उस प्रदेश को पूर्व दिशा कहा जाता है तथा वहाँ के मूर्त पदार्थों को पूर्व माना जाता है। जहाँ सूर्य अस्तंगत होता है, आकाश का वही प्रदेश पश्चिम

दिशा कहलता है। सूर्योदय में सूर्य की ओर मुँह करके खड़ा होने पर जो दाहिनी ओर आकाश होता है उसे दक्षिण दिशा और बायीं ओर के आकाश को उत्तर दिशा कहते हैं। अतएव आकाश से अतिरिक्त दिशा नामक कोई द्रव्य नहीं है।^{३०} दिशा की उत्पत्ति के विषय में आचारांग निर्युक्ति में कहा गया है कि तिर्यक् लोक से दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति होती है। आकाश के दो प्रदेशों से दिशा का प्रारंभ होता है और वह दिशा दो-दो प्रदेशों की वृद्धि करती हुई असंख्य प्रदेशात्मक बन जाती है। अनुदिशा केवल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधोदिशा का प्रारंभ चार प्रदेशों से होता है। उसमें अन्त तक चार ही प्रदेश हैं किन्तु वृद्धि नहीं होती^{३१}। इससे स्पष्ट होगा है कि दिशा आकाश से पृथक् कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में आकाश की अवधारणा, लोकाकाश और अलोकाकाश के रूप में विभक्त है। अलोकाकाश, जैन-दर्शन की मौलिक अवधारणा है। लोकाकाश लोक तक सीमित है, तो अलोकाकाश असीमित है। डा. मोहनलाल मेहता का कहना है कि जब आकाश कोई भावात्मक तत्त्व नहीं है, तब आकाश के आधार पर लोकाकाश और अलोकाकाश की कल्पना न करते हुए केवल लोक और अलोक रूप विभाजन को ही स्वीकार करना चाहिए।^{३२} कहा जा सकता है कि लोकाकाश और अलोकाकाश दो भिन्न द्रव्य नहीं हैं, बल्कि आकाश द्रव्य के ही दो रूप हैं। जहाँ धर्म, अधर्म, जीव पुद्गल और काल की स्थिति है, वह लोक है और जहाँ इसका अभाव है वह अलोक है। वस्तुतः अलोक, लोक के चारों ओर व्याप्त है, उसमें समाया हुआ है। पणवणा में लोक को आकाशरूपी वस्त्र की एक कारी या थिगली कहा गया है^{३३}। भगवतीवृत्ति में कहा गया है अलोक में आकाश परिपूर्ण नहीं है। उसका एक भाग लोक में है।^{३४} अतः लोकाकाश और अलोकाकाश दो नहीं बल्कि एक ही आकाश के रूप हैं। यह सत्य है कि आकाश इन्द्रियगम्य नहीं है। इसलिए इसकी सिद्धि लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा संभव नहीं है। किन्तु आगम प्रमाण से इसकी सत्ता मान्य है।

सन्दर्भ

१. बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. १७५
२. वैशेषिकसूत्र २: १, २७, २९-३१

३. न्यायसूत्र ४:२, २१-२२
४. मानविकी-पारिभाषिक-कोष (दर्शनखण्ड), डा. नगेन्द्र, पृ. १६८-१६९।
५. वही
६. Our Idea of Space, fugue, motion, rest their origin in the common sense, in the mind itself for they are ideas of pure understanding which however, have reference to the external world
Duncen Philosophical works of Leibnitz, p.150
7. Space is not an empirical concept abstracted from external experiences. For in order that certain sensations may be referred to something outside me (i.e. something in a different position in space from that in which I find myself), and further in order that I may be able to perceive them in outside and besides each other and thus as not merely different but indifferent places, the presentation of space must already give the foundation.
B. Russell History of western Philosophy, P. 741
8. That the idea of space stems a priori and not from experience is clear from the fact that space is 'infinite' which no one can experience or demonstrate furthermore, it is possible to conceive the complete absence of things from space, but not the absence of phenomenon from time, but not the absence of time itself, which, therefore is given a priori".
Klinke, Kant for Everyman, P. 84 - 85
9. There is here,..... a difficulty which he seems to have never felt. What induces me to arrange objects of perception as I do rather than otherwise? why for instant, do I always see people eyes above their mouths and not below them?..... Kant holds that the mind orders raw material of sensation, but never thinks it necessary to say why it orders it, it does and not otherwise.
B. Russell, History of western Philosophy, P. 741
१०. तत्त्वार्थसूत्र ५/१८
११. आगासत्थिकाए अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरुवी अजीवे सासए अवट्टिए लोगालोगदब्बे। स्थानांगसूत्र ५/३/१७२
१२. वही

१३. चउविहा ओगाहणा पण्णत्ता, तं जहा-दब्बोगाहणा, खेतोगाहणा, कालोगाहणा, भावोगाहणा। वही ४/१/१८८
१४. गोयमा। दुविहे आगासे पण्णत्ते, तंजहा-लोयाकासे य अलोयागासे य। वही २/१०/१०
१५. आयातचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणति उड्डुं भागं जाणति, तिरियं भागं जाणति। आचारांगसूत्र १/२/५/९१
१६. जैन-दर्शन का आदिकाल, पं. दलसुखभाई मालवणिया, पृ. २४१-२४२
१७. भगवई, पृ. १३४
१८. अलोए णं भंते। किखंठिए पण्णत्ते? गोयमा झुसिरगोलसंढिए पण्णत्ते ॥ भगवती ११/९९
१९. भारतीय सृष्टिविद्या, डा. प्रकाश, पृ.-१०
२०. व्याख्याप्रज्ञप्ति में आकाश के निम्नलिखित पर्यायवाची बताए गए हैं- आकाश, आकाशास्तिकाय, गगन, नभ, सम, विषम, खह, विहायस, वीचि, विवर, अम्बर, अम्बरस, छिद्र, शुषिर, मार्ग, विमुख, अर्द, व्यर्द, आधार, व्योम, भाजन, अंतरिक्ष, श्याम, अवकाशान्तर, अगम, स्फटिक और अनन्त। व्या. प्र. २/६
२१. रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः। सप्ताधोऽधः पृथुतराः। तत्त्वार्थ-सूत्र ३/१
२२. अट्टविद्या लोगट्टिती पण्णत्ता, तं जहा-आगसपतिट्टिते वाते, वातपट्टिते उदही (उदधिपतिट्टिता पुढवी, पुढवीपतिट्टिता तसा थावरा पाणा, अजीवा जीवपतिट्टिता) जीवा कम्मपतिट्टिता, अजीवा जीवसंगहीता, जीवा कम्मसंगहीता। स्थानाङ्गसूत्र ८/१४, भगवई १.६.३१०
२३. आकाशं तु स्वप्रतिष्ठितमेवेति न तत्प्रतिष्ठाचिन्ता कृतेति। भगवतीवृत्ति १/३१०
२४. जैन धर्म-दर्शन, डा. मोहनलाल मेहता, पृ. २१४-२१५
२५. भगवती १३/४, उद्धृत-श्रीदेवेन्द्रमुनि शास्त्री, जैन-दर्शन में आकाश तत्त्वः एक अध्ययन, श्रमणोपासक, अप्रैल ७८, पृ. १६
२६. भगवई, आचार्य महाप्रज्ञ, पृ. १३५
२७. तंह प्रवाहणो जैवलिर उचाव-अस्य लोकस्य का गतिर इत्य आकाश इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्या काशाद् एवं समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तम् यान्त्या काशोह्य एवेभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम्। छान्दोग्योपनिषद् १/८/८, १/९/१
२८. रोहा! लोयंते य अलोययंते य पुव्विं पेटे, पच्छा पेटे-दो वेते सासयाभावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा! भगवई, आचार्य महाप्रज्ञ, १/६/२९६
२९. जैनदर्शन, पं. महेन्द्रकुमार जैन, तृतीय संस्करण, पृ. १३३
३०. सूर्यपरिस्पन्दयुक्ताकाशस्यैव (सूर्यपरिस्पन्दादिभिराकाशस्यैव) प्राच्यादिव्यवहारोपपत्तौ दिगिति न पृथग्द्रव्यकल्पनम्। यतीन्द्रमतदीपिका, व्याख्याकार, आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, पृ. ७८-७९।
३१. आचारांगनिर्युक्ति, ४२/४४, उद्धृत, श्री देवेन्द्रमुनिशास्त्री, जैनदर्शन में आकाश तत्त्व, श्रमणोपासक, अप्रैल १९७८, पृ. १९
३२. जैन धर्म-दर्शन, डा. मोहनलाल मेहता, पृ. २१८
३३. आगासधिगले णं भंते! किणा फुडे? कइहिं वा काएहिं फुडे? पण्णवणा १५/५३
३४. अलोकाकाशस्य देशत्वं लोकालोकरूपाकाशद्रव्यस्य भागरूपत्वात्। भगवतीवृत्ति, २/१४०